जैन विद्याओं में ज्ञान का सिद्धान्त—२

ज्ञान प्राप्ति की आगमिक एवं आधुनिक विधियों का तुलनात्मक समीक्षण

डा० एन० एल० जैन
जैन केन्द्र, रीवा (म० प्र०)

ज्ञान प्राप्ति की विधि

जैन शास्त्रों में ज्ञान के संबंध में 'जाणदि' और 'पस्सदि' शब्दों का प्रयोग आया है। टाटिया ने बताया है कि ज्ञान-मंथन के प्रारंभिक काल में इन दोनों क्रियाओं में विशेष अंतर नहीं माना जाता था क्योंकि ये प्रायः सम-सामयिक थीं[1]। बाद में यह अनुभव हुआ कि इंद्रियों की क्रियायें मनोजन्य ज्ञान से पूर्ववर्ती होती हैं। इसलिये भौतिक जगत् के ज्ञान के लिये 'पस्सदि' या इंद्रियजन्य क्रियायें अधिक महत्वपूर्ण हो गईं। इन इंद्रियों की दर्शन या स्पर्शन की प्राकृतिक शक्ति नियत होती है, अनंत नहीं। शक्ति को आधुनिक युग में विभिन्न प्रकार के उपकरणों की सहायता से दस लाख गुना तक बढ़ाया जा सकता है। इन इंद्रियों से दो प्रकार से ज्ञान प्राप्त किया जाता है: (१) स्वाधिगम विधि और (२) पराधिगम विधि[2]। प्रथम विधि प्रमाण और नय रूप से पदार्थों का ज्ञान कराती है। पराधिगम विधि शास्त्र, आगम या परोपदेश से ज्ञान कराती है। यह श्रुतज्ञान का ही रूप है। वस्तुतः नय भी वचनात्मक श्रुत का ही रूप है। यह प्रमाण का एक घटक है क्योंकि प्रमाण वस्तु को समग्र अंशों में जानता है। विभिन्न नयों के आधार पर प्राप्त ज्ञान को संश्लेषित कर प्रमाण उसे समग्रता देता है। नय विधि वस्तु के लक्षण, प्रकृति, अवस्था आदि गुणों का सापेक्ष निरूपण शब्द, अर्थ और उपचार से करती है। यह प्रमाण से भिन्न होती है पर उसका एक अंश होने के कारण वह प्रमाण-स्वरूप मानी जाती है। कुछ तार्किक प्रमाण और नय में अंश और अंशी के आधार पर अभेद मानते हैं पर अकलंक और विद्यानंद—दोनों ने इसका खंडन किया है। जहाँ प्रमाण सम्यक् अनेकांत है, वहीं नय सम्यक् एकांत है। जहाँ प्रमाण सामान्यविशेषावबोधक होता है, वहाँ नय विशेषावबोधक होता है। जहाँ प्रमाण विधि-प्रतिषेधात्मक रूप से वस्तु को ग्रहण करता है, वहाँ नय उसे धर्म-सापेक्ष के रूप से ग्रहण करता है। निरपेक्षता नय का दूषण है, सापेक्षता उसका भूषण है। अनेकान्त प्रमाण का प्रहरी है। नयवाद विचारों में उदारता प्रेरित करता है, प्रमाणवाद उसमें समग्रता लाता है। नय लौकिक स्वरूप का बोध करता है और प्रमाण उसके सर्वांगीण अलौकिक स्वरूप का अवगम कराता है[3]।

स्वाधिगम विधि को प्रयोग विधि भी कह सकते हैं क्योंकि इसमें स्वयं ही अनेक प्रकार के बाह्य और अन्तरंग निमित्त से दर्शन (निरीक्षण या स्वानुभूति) या प्रयोग करने पड़ते हैं। इसके विपर्यास में, पराधिगम विधि परकृत प्रयोग एवं निष्कर्ष के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहती है।

किसी भी वस्तु के विषय में, उपरोक्त किसी भी विधि से ज्ञान क्यों न किया जावे, वह विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत ही किया जाता है। उमास्वाति ने इन कोटियों की गणना दो रूपों में प्रदर्शित की है—छह और आठ (सारणी १)। इन्हें अनुयोग द्वार या अधिगम द्वार कहा जाता है[4]। दोनों ही रूपों में परिभाषिक शब्दावली कुछ भिन्न प्रतीत होती है पर उनके अर्थों में पुनरुक्ति प्रतीत होती है। इसीलिये पूज्यपाद ने कहा है कि ये विभिन्न रूप जिज्ञासुओं की योग्यता एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिप्राय को ध्यान में रखकर बताये गये हैं[५]। इनमें चारों प्रकार की निक्षेप विधि एवं प्रमाण-नय-अधिगम विधि समाहित हो जाती है। प्रज्ञापना और जीवाभिगम में २२ शीर्षकों (वक्तव्यताओं) का उल्लेख है।

सारणी १ : अनुयोग द्वार

(१) प्रथम प्ररूप	(२) द्वितीय प्ररूप	(३) वैज्ञानिक प्ररूप
निर्देश	सत्	नाम
साधन (उत्पादक कारण)	—	तयारी, प्राप्ति विधि
विधान (वर्गीकरण)	संख्या, अल्पबहुत्व	गुण
अधिकरण	क्षेत्र, स्पर्शन	,,
स्थिति	काल, अंतर	,,
स्वामित्व	भाव	उपयोग

भौतिक जगत के ज्ञान के विविध रूप और मतिज्ञान

सामान्यतः लौकिक और भौतिक जगत के ज्ञान के लिये प्रत्यक्ष (मति, लौकिक प्रत्यक्ष) और परोक्ष (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम या श्रुत) ज्ञान काम आते हैं। इसमें श्रुत पराधिगम के रूप में प्रयुक्त होता है। इसे हम ज्ञात ज्ञान का अभिलेख भी कह सकते हैं जो उसे सुरक्षित रखता है और प्रसारित करता है। यह ज्ञान प्रवाह की गतिशीलता में विशेष योगदान तो नहीं करता पर उसके अभिवर्धन में प्रेरक अवश्य होता है। यह श्रुत मति-पूर्वक होता है और यह पूर्व-श्रुत-पूर्वक भी हो सकता है[६]। इस दृष्टि से तो मतिज्ञान महत्वपूर्ण है ही; साथ ही, वह इस दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है कि इसके बिना स्मृति आदि परोक्ष ज्ञान भी नहीं हो सकते। इन सभी में, किसी न किसी रूप में, मतिज्ञान बीज रूप में होता है। अतः सामान्य जन के लिये ज्ञान का सर्वप्रथम साधन मति ज्ञान ही है।

मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है। फलतः इन्द्रिय ज्ञान का महत्व स्वयं सिद्ध है। इसीलिये इनके विषय में शास्त्रों में पर्याप्त चर्चा आई है। इसके अन्तर्गत इससे होने वाले वस्तु-ज्ञान के विविध प्रकार और ज्ञान प्राप्ति के विविध चरण और उनके सूक्ष्म-स्थूल भेदों का विवरण समाहित है। फलतः मतिज्ञान कैसे होता है और उस ज्ञान प्राप्ति में कितने चरण होते हैं—इन और अन्य तथ्यों का परिज्ञान अत्यन्त रोचक विषय है क्योंकि वर्तमान वैज्ञानिक ज्ञान की प्रक्रिया भी मतिज्ञान का ही एक रूप है। अतः इन दोनों की तुलना और भी मनोरंजक सिद्ध होगी।

शास्त्रों में मतिज्ञान के ३३६, ३८४ या ४५६ भेद, विभिन्न विवक्षाओं से, बताये गये हैं। इनमें वे चरण भी समाहित हैं जो ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में संपन्न होते हैं। इन्हें सारणी २ में दिया गया गया है। इन भेदों से मतिज्ञान के सम्बन्ध में प्रायः सभी आवश्यक जानकारी हो जाती है। इन भेदों को दो प्रमुख कोटियों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(i) उत्पादक साधन और (ii) स्वरूप। स्वरूप की दृष्टि से मतिज्ञान के ४८ भेद होते हैं और साधन के आधार पर २८८, ३३६ या ४०८ भेद होते हैं। मतिज्ञान के उत्पादक साधनों में पाँच इन्द्रिय और मन हैं। इनसे वस्तु का ज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के चार क्रमिक चरणों में बारह रूपों में होता है। इस प्रकार ६ × ४ × १२ = २८८ भेद तो सामान्य रूप से हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, अवग्रह के दो भेद हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। उपरोक्त २८८ भेद अर्थावग्रह की दृष्टि से हैं। यह माना गया है कि व्यंजनाग्रह चक्षु और मन को छोड़ चार अन्य प्राप्यकारी इन्द्रियों से ही होता है, अतः इसके ४ × १२ = ४८ भेद पृथक् से हुए। अब मतिज्ञान के कुल भेद २८८ + ४८ = ३३६ हो जाते हैं। अब यदि अर्थावग्रह के भी दो भेदों—उपचरित और निरुपचरित—को इस वर्गीकरण में समाहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जावे, तो इसके भी ६ × १२ = ७२ भेद होंगे। इस प्रकार सम्पूर्ण भेद ३३६ + ७२ = ४०८ हो जाते हैं। अकलंक ने मतिज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के रूप में चार भेद और गिनाये हैं। ये स्वरूपगत भेद हैं। इनके ४ × १२ = ४८ प्रकार हुए। इस प्रकार के मतिज्ञान के कुल ४५६ भेद हो जाते हैं। अकलंक को छोड़कर प्रायः सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने निरुपचरित अर्थावग्रह के ७२ भेद तथा स्वरूप विषयक ४८ भेद नहीं गिनाये हैं और आगमिक परम्परानुसार ३३६ भेदों को ही वर्णित किया है। संघवी ने बताया है कि आगमों में मतिज्ञान के भेदों का विवरण स्थूल रूप में ही दिया गया है[७]। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि अव्यक्तता एवं दुर्ज्ञेयता के कारण शास्त्रों में निरुपचरित अर्थावग्रह आदि के भेद नहीं दिये गये हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि विषयों की विविधता तथा ज्ञानोत्पादी साधनों की अगणितता के आधार पर मतिज्ञान के असंख्य भेद किये जा सकते हैं।

सारणी २ : मतिज्ञान के भेद-प्रभेद

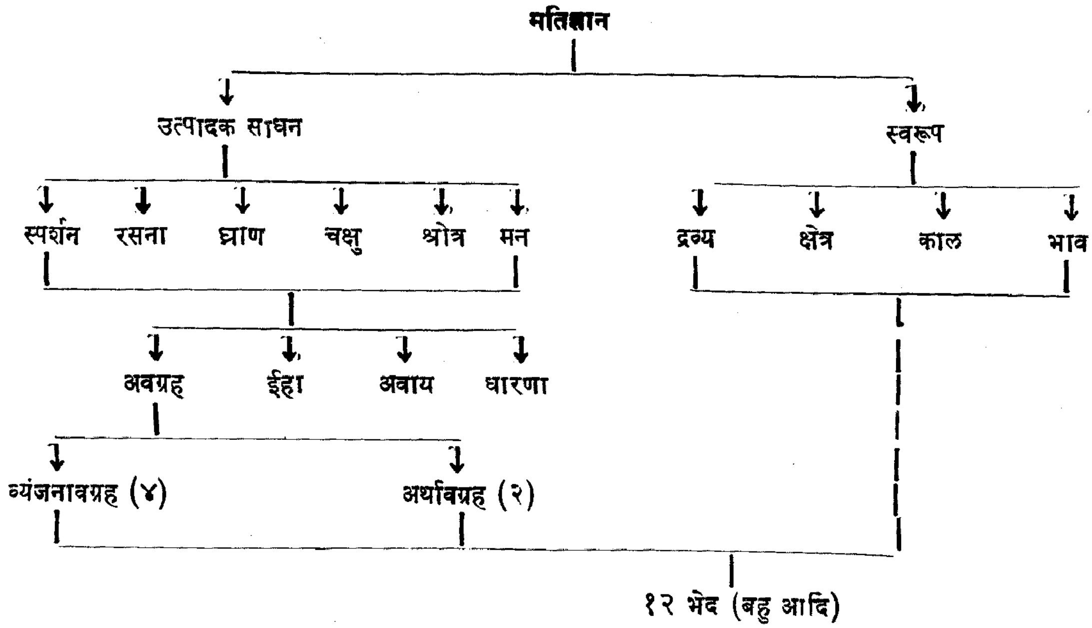

मतिज्ञान : ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया के पांच चरण

जैन शास्त्रों के अनुसार, किसी भी वस्तु के विषय में समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये पांच चरण होते हैं— (i) दर्शन, (ii) अवग्रह, (iii) ईहा, (iv) अवाय, (v) धारणा[८]। यह स्पष्ट है कि सामान्य ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। अतः दर्शन ज्ञान प्राप्ति-प्रक्रिया का प्रथम चरण है। यह पद आगमिक और दार्शनिक युग में विभिन्न रूपों में परिभाषित हुआ है। यद्यपि दार्शनिक परिभाषा को स्थूल कहा गया है, फिर भी यही हमारे लिये सर्वाधिक उपयोगी है। इसके अनुसार, इन्द्रिय और अर्थ के प्रथम सम्पर्क के समय जो निराकार, सामान्य सत्तावग्राही, "कुछ है" के समान अवलोकन होता है, उसे दर्शन कहते हैं। तत्काल जन्मे बालक के आँख खोलते ही होने वाले प्रथम अवलोकन के समान वस्तु-विशेष की अग्राही, सामान्य वस्तुमात्रग्राही प्रक्रिया दर्शन है। यह प्रक्रिया न संशयात्मक है, न विपर्ययात्मक है और न अकिंचित्कर ही है। यह मिथ्याज्ञान नहीं है, पर यह सम्यग् ज्ञान भी नहीं है। इसमें वस्तु की आकारादि विशेषताओं का बोध नहीं होता। अतः दर्शन में ज्ञानात्मकता नहीं है, फिर भी इसे ज्ञान का बीज तो माना ही जा सकता है। इसी आधार पर इसमें ज्ञानात्मकता उपचारतः ही स्वीकृत है। यही कारण है कि अकलंक के अनुसार, दर्शन मीमांसकों के 'आलोचना ज्ञान' या बौद्धों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'निर्विकल्पक ज्ञान' के समतुल्य है। जिनभद्र इस ज्ञान को 'व्यंजनावग्रह' मानते हैं, जबकि सिद्धसेन इसे अर्थावग्रह का पूर्ववर्ती मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि चक्षु-मन के अतिरिक्त चारों इन्द्रियों से होने वाला व्यंजनावग्रह दर्शन की कोटि में नहीं आता। लेकिन सिद्धसेन के अनुसार, दर्शन और ज्ञान की प्रक्रिया सम-सामयिक होती है और साधनभेद होने पर भी व्यंजनावग्रह और दर्शन की कोटि समतुल्य है। परन्तु दर्शनपूर्वक ज्ञान की मान्यता से ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक दार्शनिक सिद्धसेन के मत को नहीं मानते। वे दर्शन को पदार्थ और इन्द्रिय के सम्पर्क से पूर्ववर्ती प्रक्रिया मानते हैं[६]। यह मत सहज बोधगम्य नहीं प्रतीत होता। इससे 'दर्शन' अनुपयोगी सिद्ध होता है। अतः इसे 'अर्थावग्रह' की पूर्वप्रक्रिया मानना अधिक तर्कसंगत लगता है।

इन्द्रिय और पदार्थ के प्रथन सम्पर्क के उपरान्त कुछ समयों में अनेक बार वस्तु-दर्शन होता है, तब किंचित मन के योग से वस्तु के आकार, रूप आदि कुछ विशेषताओं का ज्ञान होता है। इस स्थिति में दर्शन की प्रक्रिया 'अवग्रह' नामक दूसरे चरण का रूप ले लेती है। इस प्रकार पदार्थ-विषयक विकल्प बुद्धि अवग्रह कहलाती है। यह चरण उत्तरवर्ती चरणों का प्रेरक है और ज्ञान को पूर्ण तथा विशिष्ट निश्चयात्मक रूप देने में सहायक है। अवग्रह-ग्रहीत जाति-सामान्य के रूप में विकल्पित पदार्थों के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा या विचारणा ईहा नामक चरण है। सफेद रूप को देखकर यह बगुला है या पतंग-रूप संशय होता है, रस्सी-सर्प संशय होता है। इसके लिये बार-बार दर्शन एवं अवग्रह की प्रक्रिया अपनाई जाती है और फिर मानसिक विश्लेषण द्वारा निश्चयोन्मुखता की ओर प्रवृत्ति होती है। यह ईहा-प्रवृत्ति अवग्रह प्रक्रिया का कार्य है एवं ज्ञान-प्रक्रिया का तीसरा चरण है। ईहा में किये गये बौद्धिक विश्लेषण से निर्णयात्मक निष्कर्ष पर पहुँचने के चरण को 'अवाय' कहते हैं। यह चौथा चरण है। अवाय प्रक्रिया से निर्णीत वस्तु को कालान्तर में स्मरण रखने या विस्मृत न करने की योग्यता या प्रक्रिया को 'धारणा' नामक पाँचवाँ चरण कहते हैं। यह स्मरणात्मक ज्ञान ही बाद में अक्षरात्मक श्रुत का रूप लेता है। अवाय के समान धारणा भी मुख्यतः मन या बुद्धि-व्यापार है। इन पाँचों चरणों का संक्षेपण सारणी ३ में दिया गया है। शास्त्रों में बताया गया है कि यथार्थ ज्ञान की स्थिति में ये पाँचों

सारणी ३ : ज्ञान प्राप्ति के पांच चरणों का संक्षेपण

	दर्शन	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
१. स्वरूप	वस्तु सामान्य का दर्शन	वस्तु सामान्य का ज्ञान	वस्तु विशेष की पहिचान के लिये बौद्धिक विश्लेषण	वस्तु विशेष का निर्णय	स्मरण क्षमता
२. प्रकृति	दर्शन रूप	दर्शन + ज्ञान रूप	मनो-व्यापार	मनो-व्यापर	ज्ञान रूप
३. भेद	चार (चक्षु, अचक्षु, अवधि, मनः पर्यय)	दो (अर्थ, व्यंजन)	—	—	—
४. साधन	इन्द्रिय-अर्थ का प्रथम सम्पर्क	इन्द्रिय-अर्थ का सम्पर्क + किंचित् मनो-व्यापार	अवग्रह ग्रहीत पर मनो-व्यापार	मनो-व्यापार	मनः संस्कार
५. स्थायित्व	असंख्यात समय	एक समय, असंख्यात समय	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	असं० समय
६. कार्य	दर्शन	दर्शन + ज्ञान	विश्लेषणात्मक	निर्णय	वासना
७. उदाहरण	कुछ है	रूपमात्र है	सफेद-काले रूप का विश्लेषण	श्वेत रूप है	—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरण क्रमशः होते हैं। अभ्यास या अन्य कारणों से अनेक बार इन चरणों का सूक्ष्म काल भेद प्रतीत नहीं होता और तत्काल अवाय ज्ञान ही होता दीखता है। सामान्य दशाओं में सभी चरण पूर्ण न होने पर ज्ञान निर्णयात्मक एवं यथार्थ नहीं होता[1°]। इन चरणों का शास्त्रीय विवेचन अन्यत्र दिया जा रहा है।

मतिज्ञान की विषय वस्तु के विविध रूप

उपरोक्त अवग्रह आदि चरणों के क्रम से पूर्वोक्त अनुयोग द्वारों के माध्यम से पदार्थों के विषय में ज्ञान किया जाता है। यह ज्ञान इन्द्रियगम्य रूपों की विविधता तथा ज्ञान प्राप्ति के निमित्तों (बुद्धिपटुता या क्षयोपशम) की तरतमता पर आधारित होता है। इन्द्रिय रूप के आधार पर पदार्थ (अतएव उनका ज्ञान) छह प्रकार के हो सकते हैं :

(i) एक, एकविध, बहु, बहुविध, निःसृत और अनिसृत

बुद्धि की पटुता के आधार पर भी ज्ञान छह कोटियों से हो सकता है :

(ii) क्षिप्र, अक्षिप्र, उक्त, अनुक्त, ध्रुव, अध्रुव

अवग्रहादिक प्रत्येक चरण से इन बारह रूपों में ज्ञान प्राप्त होता है। इनका निरूपण **सारणी ४** में दिया गया है। इनकी परिभाषा व उदाहरणों से प्रतीत होता है कि इन भेदों में पर्याप्त पुनरावृत्ति है। यदि ये भेद न भी होते,

सारणी ४ : पदार्थों के ज्ञान के विविध रूप : मतिज्ञान*

	नाम	अर्थ	उदाहरण
१.	बहु	सामान्य संख्या, परिमाण	बाजार में बहुत गेहूँ है (तौल, परिमाण, संख्या में)
२.	बहुविध	गुणात्मक विविधताओं की संख्या, परिमाण	शरबती गेहूँ बहुत है
३.	एक	संख्या, परिमाण	एक घोड़ा, गौ आदि
४.	एकविध	गुणात्मक विविधता की संख्या, परिमाण	यहाँ पंजाबी गौ एक है
५.	अनिःसृत	एक देश के आधार पर सर्वदेशी पदार्थ का ज्ञान, स्मृति आदि से ज्ञान	जल-निमग्न हाथी की सूंड़ देखकर हाथी का ज्ञान
६.	निःसृत	सर्वदेश के आधार पर पदार्थ का ज्ञान, स्वतः ज्ञान	गाय देखकर गौ-ज्ञान
७.	क्षिप्र	(i) अतिवेगी पदार्थ का ज्ञान (ii) शीघ्र ज्ञान	प्रवाही जलधारा
८.	अ-क्षिप्र	(i) मन्दगतिक पदार्थ का ज्ञान (ii) देरी से होने वाला ज्ञान	चरागाह से लौटते हुए पशुओं का ज्ञान
९.	ध्रुव	(i) स्थिर पदार्थों का ज्ञान (ii) एक रूप या यथार्थ ज्ञान	पर्वत, वृक्ष आदि
१०.	अध्रुव	(i) अस्थिर पदार्थों का ज्ञान	उड़ते-बैठते पक्षी का ज्ञान
११.	उक्त (असंदिग्ध)	दूसरों के कहने पर होने वाला ज्ञान	'यह गौ है', सुनकर गाय का ज्ञान
१२.	अनुक्त (संदिग्ध)	स्वयं ही सोचकर अभिप्राय मात्र से ज्ञान	'अग्नि लाओ' सुनकर खपरे पर अग्नि/जलते हुए कण्डे का लाना

* श्वेताम्बर मान्यता में ५–६ व ११–१२ रूपों के कुछ भिन्न नाम व अर्थ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो भी काम चल सकता था। कभी-कभी वर्गीकरण की अन्तहीन प्रक्रिया भ्रान्ति और अस्पष्टता को भी जन्म देती है। शास्त्रों में बताया गया है कि बहुआदि भेद पदार्थों के ही होते हैं, पर इन भेदों का अनुयोग द्वारों से कोई सम्बन्ध उल्लिखित नहीं है। इसके बावजूद भी जैनाचार्यों ने पदार्थों को जिन विविध रूपों से अवलोकित किया है, वह अन्य दर्शनों में नहीं पाये जाते। अतः उनकी अवलोकन क्षमता की अपूर्वता तो स्वीकार करनी चाहिये।

मतिज्ञान के उपरोक्त रूप सामान्य ज्ञान की दृष्टि से बताये गये हैं। इनसे छहों द्रव्यों का परिज्ञान किया जा सकता है। परन्तु इन्द्रिय-मन जन्य होने से मतिज्ञान की कुछ सीमाएँ हैं। इसीलिये जब जीव या चेतन द्रव्य का ज्ञान करना पड़ता है, तो उसके विवरण को ७ द्रव्यात्मक एवं ७ भावात्मक—कुल १४ मार्गणा द्वारों से निरूपित किया जाता है। ये द्वार भी जैन दर्शन की विशेषता हैं।

ज्ञान प्राप्ति के चरणों की समीक्षा।

ज्ञान प्राप्ति के उपरोक्त चरणों एवं ज्ञान के रूपों से यह स्पष्ट है कि इसके लिये इन्द्रिय-सम्पर्कात्मक निरीक्षण, दर्शन और बुद्धि व्यापार आवश्यक है। आधुनिक युग में विज्ञान की परिभाषा भी इसी प्रक्रिया पर आधारित है। यह भी इन्द्रियज या यंत्रज निरीक्षणों से संगत बुद्धि व्यापार का परिणाम कहा जाता है। ज्ञान प्राप्ति की उपरोक्त पाँच प्रक्रियाएँ उन्हीं चरणों के समकक्ष हैं, जिन्हें वैज्ञानिक अनुसरण करते हैं। वैज्ञानिक प्रक्रिया में प्रयोग, निरीक्षण, वर्गीकरण, निष्कर्ष, उपकल्पना या नियमीकरण के पाँच चरण होते हैं। इन्हें निम्न प्रकार से शास्त्रीय चरणों से समकक्षता दी जा सकती है :

शास्त्रीय चरण	वैज्ञानिक चरण
(i) दर्शन	प्रयोग
(ii) अवग्रह	निरीक्षण
(iii) ईहा	वर्गीकरण
(iv) अवाय	निष्कर्ष, उपकल्पता
(v) धारणा	नियमीकरण, संप्रसारण

इससे यह स्पष्ट है कि पुरातन या शास्त्रीय युग में भौतिक जगत संबंधी ज्ञान की प्राप्ति के लिये आधुनिक प्रक्रिया ही अपनाई जाती रही है। यही नहीं, मतिज्ञान के ३३६—४५६ भेद यह बताते हैं कि यद्यपि उस युग में यांत्रिक युक्तियां नहीं थीं, फिर भी बौद्धिक एवं इंद्रियज तीक्ष्णता पर्याप्त थी। यह मान्यता भी सहज थी कि इंद्रिय एवं बुद्धि के सामान्य होने पर जो ज्ञान होगा, वह निर्दोष एवं यथार्थ होगा। भौतिक जगत संबंधी आगमिक और शास्त्रीय विवरणों का आधार यही वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसलिये इन विवरणों की आधुनिक मान्यताओं से तुलना करना अत्यंत रोचक अनुसंधान का विषय है। यह आशा की जा सकती है कि अध्ययन विधियों के समान होने से, दोनों ही पद्धतियों से प्राप्त ज्ञान में, कुछ गौण या सूक्ष्मतर विवरणों को छोड़, विशेष अंतर नहीं होना चाहिये।

ज्ञान-द्वार या अनुयोग द्वारों का मूल्यांकन

किसी भी ज्ञेय के संबंध में वैज्ञानिक अध्ययन करते समय उसे कुछ सामान्य और विशेष शीर्षकों के अंतर्गत विवेचित किया जाता है। शास्त्रीय युग में भी यही पद्धति अपनाई जाती थी और उन शीर्षकों को सारणी १ के समान छह या आठ रूपों में निर्देशित किया गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से इन्हें चार मुख्य शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है (i) नाम (सत् या निर्देश), (ii) तयारी, प्रातिविधि (साधन), (iii) गुण (अधिकरण, स्थिति, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, संख्या, अल्प बहुत्व) और (iv) उपयोग या उपभोक्ता (भाव)। शास्त्रीय शीर्षकों के अंतर्गत अजीव तत्व के विवरण, अकलंक ने सारणी ५ के समान दिये हैं। इस सारणी में एतत्संबंधी आधुनिक विवरण भी दिये गये हैं। इन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवरणों की तुलना से यह प्रकट होता है कि अजीव तत्व की परिभाषा करने में ही काफी अंतर है। यद्यपि जीवन-ऊर्जा के अंतर्गत अनेक वैज्ञानिक प्रक्रियायें समाहित मानी जा सकती हैं, पर शास्त्रों में उनका विवरण गुणात्मक ही अधिक है, उसमें परिमाणात्मकता एवं सूक्ष्मता कम है। इसके अतिरिक्त, विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत प्राप्त विवरण भौतिक अधिक हैं, उनमें रासायनिक प्रक्रमों का प्रायः अभाव है। इस प्रकार, ज्ञान-द्वारों एवं विधियों में वाह्य समरूपता के बावजूद भी ज्ञेय-संबंधी शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विवरणों में काफी अन्तराल पाया जाता है।

सारणी ५ : विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत अजीव तत्त्व के शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विवरण

शीर्षक	शास्त्रीय विवरण	वैज्ञानिक विवरण
१. नाम (निर्देश)	अजीव-जिसमें १० प्राण या चेतना न हो।	अजीव-जिसमें प्रोटोप्लाज्म, आहार, विसर्ग, जन्म, विकास, मृत्यु, चयापचय, अनुकूलन, संवेदनशीलता, श्वासोच्छवास एवं स्वतोगति न हो। अनियत आकार, विस्तार।
२. उत्पादक सामग्री (साधन)	(अ) यह अणु एवं परमाणुओं के संयोग व वियोग से उत्पन्न होता है। (ब) धर्म (ईथर), अधर्म (आकर्षण), आकाश एवं काल के कारण गति, स्थिति, परिवर्तन और अवगाहन होता है।	यह अजीव परमाणुओं और अणुओं के संयोग-वियोग से उत्पन्न होता है। कभी-कभी यह सजीव पदार्थों से भी उत्पन्न होता है (राख आदि)। (ब) ईथर आदि वास्तविक नहीं हैं, मात्र निर्देश बिन्दु हैं।
३. गुण		
(अ) आधार (क्षेत्र, स्पर्शन)	पदार्थ आकाश, अन्य द्रव्यों एवं स्वयं में अधिष्ठित होता है।	पदार्थों के आधार, स्थिति, भेद-प्रभेद, आकार, विस्तार अनेक प्रकार के होते हैं और परिवर्ती होते हैं।
(ब) स्थिति (आयु)	यह एक से अनंत समय तक बना रहता है।	
(स) भेद-प्रभेद (विधान)	यह अनेक प्रकार से एक से असंख्यात रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है।	(द) पदार्थों या अजीव से जीव की उत्पत्ति संभव है।
४. उपयोग (स्वामित्व)	पदार्थ जीव एवं अजीव-सभी के लिये विविध रूपों में उपयोगी होता है।	अजीव पदार्थ जीवन एवं जीव-दोनों के लिये उपयोगी होता है।

ज्ञान प्राप्ति में सहयोगी कारक

ज्ञानप्राप्ति के लिये उपयोगी चरणों में प्रथम चरण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार, किसी वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिये कम से कम दो मुख्य कारक होने चाहिए—इंद्रियां और पदार्थ या ज्ञेय वस्तु। इन दोनों के मध्य संपर्क के लिये प्रकाश भी होना चाहिये। अन्य कारक भी हो सकते हैं। सर्वप्रथम यह संपर्क इन अनेक कारकों की उपस्थिति में भौतिक इंद्रियों एवं पदार्थ के बीच होता है। इस संपर्क से भावेन्द्रियां उत्तेजित होती हैं और वे इस संपर्क की

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

सूचना मस्तिष्क को पहुँचाती हैं। मस्तिष्क वस्तु-ज्ञान कराता है। अनेक वाह्य और आभ्यंतर कारणों से होने वाली सहज ज्ञान की यह प्रक्रिया न्यायदर्शन ने स्वीकार की है। लेकिब जैनों ने ज्ञानोत्पादक कारणों को दो कोटियों में स्पष्टतः विभाजित किया है : मुख्य और सहयोगी[११]। ज्ञान का मुख्य कारक तो जीव या आत्मा ही है, क्योंकि सभी कारकों की उपस्थिति में भी इसके बिना ज्ञान संभव नहीं होता। अन्य कारक अजीव होते हैं और वे सहयोगी कारक कहलाते हैं। इनमें सजीवता के गुण अध्यारोपित नहीं किये जा सकते। ये शरीरस्थ जीव के परिवेशी कर्मों के आवरण को नष्ट या दूर कर ज्ञान में सहायक होते हैं। ज्ञान के विषय में यह परा-प्राकृतिक प्रवृत्ति जैन ज्ञान-सिद्धांत की ही विशेषता है[१२]। कर्मों के आवरण के दूर होने पर आत्मा में प्रातिभ प्रकृति प्रकट होती है और इसलिये ज्ञान अतीद्रिय हो जाता है। अतएव जैनों के लिये इंद्रियां, मन, प्रकाश और स्वयं ज्ञेय वस्तु भी ज्ञान के द्वितीयक या सहयोगी कारण होते हैं। ज्ञान-प्राप्ति के कारकों का यह विभाजन जैनों की एतत् विषयक गहन अंतर्दृष्टि का आभास देता है। ज्ञान-प्राप्ति के क्षेत्र में दो प्रकार के कारकों की यह धारणा भौतिकवादी वैज्ञानिकों के लिये किंचित् पथवाह्य लग सकती है। वे कह सकते हैं कि मुख्य कारक की धारणा के विना भी ज्ञान संभव हैं, ज्ञान के क्षेत्र में आत्मा का यह अनधिकार प्रवेश है। लेकिन आत्मवादियों के लिये तो जानना और देखना उसी का कार्य है। इस तर्क से जैन न्यायदर्शन के कारक-साकल्यवाद के ज्ञान के सिद्धान्त को अमान्य करते हैं। लेकिन इस संबंध में जैनों के कुछ कथनों का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। उनके ज्ञान-सिद्धान्त की आधारभूत तीन मान्यतायें हैं :

(i) चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं। उनका पदार्थों से संपर्क नहीं होता[13]।
(ii) अन्य इंद्रियों की तुलना में चक्षु स्थूलतर ज्ञेयों को देखती है[१४]।
(iii) आत्मा सर्वज्ञ होता है और वह त्रिकालदर्शी होता है[१५]।

वैज्ञानिक मानते हैं कि देखने की प्रक्रिया में चक्षु एक कैमरे के समान कार्य करती है और वह प्रकाश के माध्यम से परोक्ष रूप से वस्तु से संपर्कित होकर ही उसका ज्ञान कराती है। इसलिये चक्षु की अप्राप्यकारिता का अर्थ ईषत्, आंशिक या परोक्ष प्राप्यकारिता मानना चाहिये। इससे चक्षु की क्रिया-पद्धति विषयक लुप्त विन्दु की व्याख्या हो जावेगी। इस आधार पर चक्षु की अप्राप्यकारिता वस्तुतः एक बहुत स्थूल कथन है। वैज्ञानिक तो अंधकार को भी मानव के दृश्य-प्रकाश परिसर से बाहर का प्रकाश ही मानते हैं। यह अंध-प्रकाश बिल्ली और उल्लू आदि तिर्यंचों की दृश्यता परिसर में आता है और उसकी आवृत्ति 4000°A से कम और 8000°A से अधिक होती है। इस विषय में अन्यत्र विचार किया गया है।[१६]

जैनों के अनुसार, मन दो प्रकार का होता है—द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन को शरीर विज्ञानियों का मस्तिष्क माना जा सकता है। यह हमारे शरीर तंत्र की शक्ति एवं क्रियाओं का भंडारगृह है। यह दोनों प्रकार से काम करता है—यह इंद्रियों से प्राप्त संवेदनों से तथा मानसिक प्रक्रियाओं से उत्पन्न संवेदनों से प्रभावित होता है। वास्तव में, चक्षु की तुलना में मस्तिष्क की प्राप्यकारिता और भी अधिक परोक्ष होती है। जैनों का कर्म सिद्धांत भी इसकी प्राप्यकारिता की ओर संकेत देता है।

चक्षु स्थूलतर पदार्थ देखता है, यह भी एक अव्याप्त कथन प्रतीत होता है। अन्य इंद्रियों के संपर्क में केवल आणविक संरचना वाले अदृश्य पदार्थ ही आते हैं। इसके विपर्यास में, चक्षु प्रकाश, अंधकार, छाया आदि के सूक्ष्मतर पुद्गलों को भी देखती है। इस दृष्टि से कुन्द-कुन्द के अणु-वर्गीकरण में भी एक विसंगति है[१७]। वस्तुतः वैज्ञानिक दृष्टि से चक्षु और चक्षु-पूरक यंत्र ही दृश्यता या स्थूलता और सूक्ष्मता की सीमा निर्धारित करते हैं।

आत्मा की सर्वज्ञता का सिद्धान्त ज्ञान के इंद्रिय-पदार्थ-संपर्क-सिद्धान्त के विरोध में जाता है। जैनों के अनेक सिद्धान्त ऐसे हैं जो आगम से प्रामाण्य पाते हैं। उनमें तार्किकता उत्तरकाल में आई है[१८]। चक्षु की अप्राप्यकारिता एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वज्ञता के सिद्धान्त इसी कोटि के हैं। आचारांग में महावीर को सर्वज्ञ कहा गया है पर बुद्ध ने इसको मान्यता नहीं दी। वस्तुतः हम सर्वज्ञता को ज्ञान के उच्चतम सामर्थ्य का वहिर्वेशन मान सकते है। यह संभव है या नहीं, यह पृथक् प्रश्न है। समंतभद्र, अकलंक आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसकी संभावना के पक्ष में अनेक तर्क दिये है[१९]। फिर भी, यदि इसे अतीन्द्रिय ज्ञानी माना जाता है ओर उसे सूर्य-चन्द्र आदि ज्योतिग्रहों के गति एवं ग्रहण की गणनाओं के आधार पर सिद्ध किया जाता है, तो आधुनिक दृष्टि से यह निष्कर्ष विरोध का ही समर्थन करेगा। इन विषयों पर गणित एवं ज्योतिष शास्त्रियों ने अध्ययन किये हैं। साथ ही, जैनों के आगम-लोप की मान्यता तथा उसके कारणों की समीक्षा एवं उनमें विद्यमान अनेक भौतिक तथ्यों एवं गणनाओं की परिवर्तनीयता की मान्यता आगम-प्रणेताओं की सर्वज्ञता के प्रश्न को पुनर्विचार के लिये प्रेरिण करती है। आधुनिक बुद्धिवादी को यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि सर्वज्ञ पुरुषों का ज्ञान अत्यंत उच्चकोटि का होगा। समंतभद्र तथा अन्य आचार्यों ने आगमिक या अन्य मान्यताओं को परीक्षित कर ही स्वीकृत करने का प्रशस्त पथनिर्देश दिया है। यह प्रवृत्ति ही ज्ञान के वृक्ष के विकास को प्रशस्त करती है।

ज्ञान प्राप्ति के परोक्ष रूप : परोक्ष मति और श्रुतज्ञान

जैनों के अनुसार, मतिज्ञान प्रत्यक्ष या इंद्रिय जन्य (लौकिक) भी होता है और परोक्ष भी होता है। यह परोक्ष ज्ञान भी प्रत्यक्ष के समान ही प्रमाण माना जा सकता है। स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान)—ये चार मतिज्ञान के परोक्षरूप हैं। ये सभी इंद्रियज्ञान के समानार्थी हैं। इन्हें परोक्ष इसलिये माना जाता है कि इनमें इंद्रियों के अतिरिक्त स्मरण, मन और बुद्धि व्यापार भी कारण होता है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि भारतीय दार्शनिकों में से केवल जैन ही ऐसे हैं जिन्होंने स्मृति को प्रमाण माना है। उन्होंने इसकी प्रमाणता के विरोध में दिये गये तर्कों की उपयुक्त परीक्षा की है। जैनों ने इन विधियों को मतिज्ञान के रूप में परिगणित कर अन्य दर्शनों में वर्णित प्रायः सभी प्रमाणों को समाहित कर लिया है[२०]। ये सभी विधियां सहज अनुभव गम्य हैं, वैज्ञानिक भी इन्हें मानकर चलते हैं।

मतिज्ञान के इन रूपों के अतिरिक्त आगम या श्रुत ग्रन्थ भी ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप में माने गये हैं। वस्तुतः श्रुतज्ञान धारणात्मक चरण का विस्तार ही है और सामयिक ज्ञानप्राप्ति का अंतिम चरण है। इसकी परिभाषा परंपरा एवं व्युत्पत्ति—दोनों आधारों से की गई है। परंपरावादी दृष्टिकोण से श्रुतज्ञान इंद्रियज्ञान (मति) पूर्वक होता है और इसमें बुद्धि और वाणी का भी उपयोग होता है। यह सेन्द्रिय या अतींद्रिय ज्ञान के समान प्रत्यक्ष और विशद नहीं होता। यह अक्षर और अनक्षर रूप से दो प्रकार का होता है। अक्षरश्रुत लिखित या वाचनिक होता है। यह स्वयं एवं अन्यों को भी ज्ञान कराता है। यह पूर्वाचार्यों के ज्ञान के संप्रसारण का काम करता है। इसे द्रव्यश्रुत भी कहते हैं। अनक्षर श्रुत को भावश्रुत कहते हैं। विभिन्न दर्शनों में इनके विभिन्न नाम मिलते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में श्रुत की अधिक लोकप्रिय और व्युत्पत्तिपरक परिभाषा दी गई है। उसके अनुसार विश्वसनीय शास्त्रज्ञों के द्वारा लिखित या मौखिक शब्द योजना श्रुत है। पूज्यपाद ने तीन प्रकार के शास्त्रज्ञ माने हैं : सर्वज्ञ तीर्थंकर, उनके प्रत्यक्ष शिष्य गणधर और अन्य आचार्य। मेहता ने शास्त्रज्ञों को लौकिक एवं अलौकिक कोटियों में विभाजित किया है[२१]। यहाँ लौकिक शास्त्रज्ञों की कोटि की सामान्यता जन सामान्य से पर्याप्त उच्चतर होती है और गणधर तथा विभिन्न आचार्य इस कोटि में आते हैं। शास्त्रज्ञों के लिए 'आप्त' कहा जाता है। इनके द्वारा निर्मित शास्त्र ही प्रमाण माने जाते हैं। ये ही श्रुतज्ञान के साधन हैं। ये अनुभव-ज्ञान के भण्डार हैं।

शास्त्रों में बताया गया है कि द्रव्य श्रुत सादि और सान्त है पर भाव श्रुत अनादि और अनन्त है। इसके दो प्रमुख भेद हैं—अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य। आचारांग आदि बारह अंग प्रथम कोटि के हैं और इनके बारहवें अंग में 'पूर्व' भी समाहित होते हैं। यह तो ज्ञात नहीं कि अंग ग्रन्थ पूर्व ग्रन्थों के पूर्ववर्ती है पर इन्हें अंगों में समाहित कर लिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है। शूब्रिंग के अनुसार पूर्व अंगों के समानान्तर ग्रन्थ रहे होंगे[२२]। अंग ग्रन्थों को दोनों परम्परायें मानती हैं लेकिन दुर्भाग्य से इनका अधिकांश, मेधा और स्मरण शक्ति की कमी से, महावीर से ६८३ से १००० वर्ष के बीच लुप्त हुआ माना जाता है। वैदिक धारा के समान आगम-रक्षण की कुल परम्परा जैनों में नहीं रही, गुरु-शिष्य परम्परा भी बहुत दृढ़ नहीं रही। दिगम्बरों की तुलना में श्वेताम्बरों ने इस कमी का अनुभव किया और ४५३-६२ ई० तक उन्होंने तीन संगीतियाँ की और अन्त में आगमों को लिखित रूप दिया। इतने अन्तराल के कारण मूल में परिवर्तन व परिवर्धन की सम्भावना से आज के विद्वान् इन्कार नहीं करते। इसलिये उनकी प्रामाणिकता परीक्षणीय मानी जाती है। दिगम्बर परम्परा में ऐसी कोई संगीति नहीं हुई और उनके यहाँ अंग विलोपन की दर भी तीव्र है[२३]। हाँ, कुछ अंगों एवं पूर्वों पर आधारित कुछ ग्रन्थ अवश्य उनके पास हैं। शूब्रिंग और जैकोबी ने आगम विलोपन की मान्यता के विषय में बताया है कि यह सम्भव है कि उनकी विषय-वस्तु महत्वपूर्ण न हो अथवा उनके वर्णन से अनुयायियों में अरुचिकरता आती हो[२६]। इस विषय पर गहन अनुसन्धान की आवश्यकता है।

श्रुत की दूसरी कोटि अंगों पर आधारित है। उसे अंगों की समकक्षता नहीं है, पर वह भी महत्वपूर्ण है। अंग वाह्य ग्रन्थ कितने हैं, यह निश्चित नहीं है। पर दिगम्बर १४ और श्वेताम्बर ३४ ग्रन्थ इस कोटि में मानते हैं। ये अंग साहित्य से उत्तर काल की रचनायें हैं। श्वेताम्बर इस कोटि में पाँचवी सदी तक की महत्वपूर्ण रचनायें तथा दिगम्बर १०वीं सदी तक के ग्रन्थ समाहित करते हैं। दिगम्बर यह भी मानते हैं कि चौदह मूल अंग वाह्य ग्रन्थ भी विलुप्त हो गये हैं। उन्होंने अंग प्रविष्ट तथा अंग वाह्य श्रुत में विद्यमान समस्त वर्णों की संख्या 1.84×10^{21} बताई है[२७]। शास्त्रों में इस श्रुत के विभिन्न भागों की विषय वस्तु भी दी गई है। अनेक प्रकरणों में वर्तमान में उपलब्ध श्रुत इससे भिन्न पाया जाता है। दिगम्बरों की तुलना में श्वेताम्बरों की गणनायें भिन्न हैं। फिर भी, इससे श्रुत के व्यापक विस्तार का पता तो चलता ही है। इसके बावजूद भी, यह माना जाता है कि सम्पूर्ण श्रुत में उपलब्ध ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान का अनन्तवाँ भाग है क्योंकि सभी ज्ञेय को पूर्णतः शब्दों में नहीं व्यक्त किया जा सकता।

ज्ञान प्राप्ति का अन्तिम चरण : श्रुत

उपरोक्त श्रुत के विषय एवं वर्णसंख्या में भिन्नता के बावजुद भी, ज्ञान प्राप्ति प्रक्रिया का अन्तिम चरण पूर्व-चरण में प्राप्त ज्ञान को अभिलेखित करना है। ये अभिलेख ज्ञात ज्ञान का निरूपण एवं सम्प्रसारण करते हैं और अज्ञात क्षितिजों की ओर संकेत करते हैं। इनके वर्णनों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिये। इन्हें ज्ञान का अन्तिम बिन्दु नहीं मानना चाहिये। वर्तमान श्रुत सर्वज्ञ-प्रणीत नहीं, अपितु उनके परम्परागत उत्तराधिकारियों द्वारा प्रणीत है, जो विभिन्न युगों में हुए हैं। अतः श्रुत को विभिन्न युगों में उपलब्ध ज्ञान का अभिलेख मानना चाहिये। अनेक प्रकरणों में उनमें परिवर्धित या विरोधी दृष्टिकोण भी पाये जाते हैं। आधुनिक ज्ञान के आधार पर उनमें परिवर्धन सम्भव हो सकता है। यदि इन्हें अपरिवर्तनीय माना जावे, तो ज्ञान तालाब के जल के समान स्थिर हो जावेगा। इस धारणा से ज्ञान के नये क्षेत्रों के प्रति अनुपयोगितावादी दृष्टि विकसित हुई, इससे भारत आधुनिक दृष्टि से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ गया। वह आगमिक युग में अपने समय में ज्ञान का अग्रणी था। इसलिये वैज्ञानिक तथा अन्य दृष्टियों से स्थिर ज्ञान की धारणा उपयोगी नहीं प्रतीत होती। अब ज्ञान एक जल प्रवाह के समान है, जिसमें संशोधन, नवयोजन एवं परिवर्तन सम्भव है, यदि ज्ञान प्राप्ति की उपरोक्त दिशाओं से इन प्रक्रियाओं का समर्थन हो। यह मत वर्तमान श्रुत से भी समर्थित है। प्रत्यक्ष के दो भेद, काल के द्रव्यत्व की मान्यता, अष्टमूलगुणों के विविध रूप, भौतिक इन्द्रियों की प्राप्यकारिता सम्बन्धी पूज्यपाद और वीरसेन की मत-भिन्नता, विद्यानन्द की धारावाही ज्ञान की प्रमाणता आदि के उदाहरण इसी ओर संकेत देते हैं। वस्तुतः यह अचरज की बात ही है कि परिवर्तनशील विश्व में उससे सम्बन्धित ज्ञान को स्थिर एवं अपरिवर्तनीय माना जावे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार

उपरोक्त निरूपण से यह स्पष्ट है कि सूक्ष्मतर विवरणों के शास्त्रीय मतभेदों के बावजूद भी, भौतिक जगत सम्बन्धी ज्ञान की प्रक्रिया और कारकों से सम्बन्धित जैन निरूपण वैज्ञानिक मान्यताओं के समरूप है। तथापि ज्ञाता आत्मा एवं अतीन्द्रिय ज्ञान सम्बन्धी मान्यता वैज्ञानिक सहमति की प्रतीक्षा कर रही है। डेलरीप ने सही कहा है कि जैनों का ज्ञान-सिद्धान्त इन्द्रिय और श्रुत ज्ञान के स्तर पर कार्य-कारणवाद की मान्यता पर आधारित होने से प्राकृतिक हैं, पर ज्ञान के उच्चतर स्तर पर यह वस्तुतः अन्तःप्रतिभात्मक हो जाता है[२६]। यह प्रातिभ ज्ञान जाँचनीय न भी हो, पर प्राकृतिक ज्ञान तो नये-नये तथ्यों एवं सत्यों के परिप्रेक्ष्य में जाँचनीय और परिवर्धनीय होना ही चाहिये।

निर्देश सूची

१. टाटिया, नथमल; **तुलसी प्रज्ञा,** जैन विश्वभारती, लाडनूं, दिसम्बर, ७८।
२. अकलंक, भट्ट; **तत्त्वार्थं राजवार्तिक–१,** भा० ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९५३, पेज ३३।
३. शास्त्री, कैलाशचन्द्र, **जैन न्याय**, भा० ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६६, पे० ३२८।
४. जैन, एस० ए०, (अनु०); **रीयलिटी,** वीर शासन संघ, कलकत्ता, १९६०, पेज ११–१५।
५ पूर्वोक्त, पेज १५।
६. देखिये, निर्देश २, पेज ६९–७०।
७. संघवी, सुखलाल (टी०); **तत्वार्थ सूत्र,** पार्श्वनाथ विद्याश्रम, काशी, १९७६, पेज १२४।
८. देखिये निर्देश २, पेज ६१।
९. देखिये, निर्देश ३, पेज १४७–५७।
१०. देखिये, निर्देश ९, पेज ६५।
११. प्रभाचन्द्र आचार्य; **प्रमेयकमलमार्तंड,** निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४१, पेज २३१–३९।
१२. डेल रीप; **नेचुरलिस्टिक ट्रेडीशंस इन इंडियन थौट**, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४, पेज ८३।
१३. देखिये, निर्देश ४, पेज २७।
१४. देखिये, निर्देश २, खण्ड २, पेज ४८४।
१५. देखिये, निर्देश २, पेज ९०।
१६. जैन, एन० एल०; **कन्टेक्टिलिटी आव आई–एन इवेलुयेशन,** तुलसी प्रज्ञा, लाडनूं, ६, १९, १९८२।
१७. कुन्दकुन्द, आचार्य; **नियम सार,** जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, १९३१, पेज १२।
१८. न्यायाचार्य, महेन्द्रकुमार; **जैन दर्शन,** वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९६६, पेज २८५।
१९. देखिये निर्देश ३ पेज १६५।
२०. देखिये निर्देश ३ पेज २७७-९४।
२१. मेहता, मोहन लाल; **जैन फिलासोफी,** जैन मिशन सोसाइटी, बेंगलोर, १९५४, पेज ११३।
२२. वाल्टर शूब्रिंग; **द डाक्टरिन ऑव जैनाज,** मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६६, पेज ७४।
२३. मालवणिया, दलसुख; **आगम युग का जैन दर्शन,** सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६, पेज १६।
२४. देखिये निर्देश २२ पेज ७५-७६।
२५. नेमचन्द्र चक्रवर्ती; **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** रामचन्द्र जैन ग्रन्थमालकर, अगास, १९७२, पेज १८०।
२६. देखिये निर्देश १२ पेज ९१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org